मिथ्यादि रूप ढलता उपयोग गाता ।
धर्मादि द्रव्यमय हूँ निज को भुलाता ।
कर्त्ता अत: वह निजी उस भाव का है,
ज्ञाता नहीं विमल निर्मल भाव का है ॥१०२॥

अज्ञान से भ्रमित हो पर को निजात्मा,
शुद्धात्म को परमयी करता दुरात्मा ।
घोरान्धकार चहुँ ओर घनी निशा में,
औचित्य ! पैर पड़ते उल्टी दिशा में ॥१०३॥

आत्मा सुनिश्चित निजीय विभाव कर्त्ता,
आत्मज्ञ हैं कह रहे पर भाव हर्त्ता ।
ऐसा रहस्य सुन के मुनि अप्रमादी,
कर्तृत्व भाव तजते, भजते समाधि ॥१०४॥

कर्त्ता कुम्हार घटका व्यवहार से है,
वो क्योंकि निश्चित सहायक बाह्य से है ।
होता उसी तरह जीव निमित्त कर्त्ता,
नोकर्म कर्म मनका, निज शक्ति-भर्त्ता ॥१०५॥

मानो कुम्हार घट निश्चय से बनाता,
क्यों कुम्भ रूप ढल तन्मय हो न पाता ।
कर्तृ स्वकार्य घटकी मृतिका अत: है,
कर्त्ता निजातम रहा निजका स्वत: है ॥१०६॥

कर्त्ता नहीं जड़ अचेतन वस्तुओं का,
आत्मा निमित्त तक भी न घटादिकों का ।
योगोपयोग जिनमें कि निमित्त होते,
योगादिकों कर कुधी जड़ सत्य खोते ॥१०७॥

निस्सारभूत जड़ पुद्गल भाव धारे,
ये ज्ञान-आवरण आदिक-कर्म सारे ।
आत्मा इन्हें न करता इस भाँति योगी,
ज्ञानी सदा समझते, तज भोग भोगी ॥१०८॥

आत्मा शुभाशुभ विभाव जभी करेगा,
कर्त्ता तभी नियम से उसका बनेगा ।
यों बार बार कर कर्म कुधी सरागी,
है भोगता दुख कभी सुख, दोष भागी ॥१०९॥

जो द्रव्य आप अपने-अपने गुणों में,
होता न संक्रमित है पर के गुणों में ।
वो अन्य को परिणमा सकता हि कैसे ?
अन्धा भला पथ दिखा सकता हि कैसे ? ॥११०॥

तादात्म्य धार निज द्रव्य निजीगुणों से,
आत्मा उन्हें कर रहा कि, युगों युगों से ।
पाया सुयोग विधि पुद्गल का तथापि,
स्वामी न आतम बना, विधि का कदापि ॥१११॥

अज्ञानिका विकृत भाव निमित्त होता,
तो आप पुद्गल अहो ! विधिरूप होता ।
जीवात्म ने विविध कर्म किये इसी से,
माना अवश्य उपचार किया खुशी से ॥११२॥

लो युद्ध यद्यपि सुसैनिकने किया है,
लोकोपचार वह भूपति ने किया है ।
दुष्टाष्ट कर्म दलको जड़ने बनाया,
पै मानना विकृत आतमने बनाया ॥११३॥

राजा, गुणी अवगुणी करता प्रजा को,
वो पूर्ण सत्य व्यवहार, नहीं मजा-को ।
आत्मा करे विधिमयी जड़द्रव्य को है,
ऐसा न मान्य व्यवहार, अभव्य को है ॥११४॥

स्वीकारता परिणमा करता कराता,
आत्मा सबंध पर पुद्गल को उगाता ।
ऐसा नितान्त व्यवहार सुबोलता है,
जो भव्य के सहज लोचन खोलता है ॥११५॥

सामान्य से चउविधा विधिबन्ध कर्त्ता,
निम्नोक्त है दुखद है शुचि-भाव-हर्त्ता ।
मिथ्यात्व औ अविरती कुकषाय योग,
ज्यों ये मिटे नियम से भवका वियोग ॥११६॥

मिथ्यात्त्व लेकर सुयोगि सुकेवली लौं,
ये हैं विभेद उनके दस तीन भी लो
ये दीन जीव गुणथानन, में पड़े हैं,
स्वाधीन सिद्ध सब वे इनसे परे हैं ॥११७॥

मिथ्यात्त्व आदि गुण पुद्गल से बने हैं,
सारे अचेतन निकेतन ही तने हैं ।
ये कर्म को कर रहे यदि हों तथापि,
आत्मा न भोग सकता उनको कदापि ॥११८॥

निर्भ्रान्त ! प्रत्यय सभी गुण-नाम वाले,
दुष्टाष्ट कर्म करते मनको विदारे ।
ज्ञाता विशुद्ध नयसे,, निजधर्म धर्ता,
कर्त्ता न आतम रहा गुण, कर्म-कर्त्ता (चुतष्क) ॥११९॥

है जीव से समुपयोग अभिन्न जैसा,
है क्रोध भी यदि त्रिकाल अभिन्न वैसा ।
तो एक-मेक सब जीव अजीव होंगे,
ये बंध मोक्ष फिर तो सब साफ होंगे ॥१२०॥

हो क्रोध आत्ममय ज्यों उपयोग भाता,
आत्मा अनात्म जड़ में ढल पूर्ण जाता ।
नोकर्म कर्म तक प्रत्यय आदि सारा,
आत्मीय हो फिर नहीं भव का किनारा ॥१२१॥

पूर्वोक्त दोष भय से यदि मित्र मानो,
है क्रोध भिन्न निज आतम भिन्न मानो ।
बाधा रही न फिर तो अति भिन्न न्यारे,
शुद्धात्मसेजड़मयीविधिकायसारे (त्रिकलम्) ॥१२२॥

जो जीव में जड़ बँधा न स्वयं बँधा है,
वो कर्म रूप ढलता न स्वयं सदा है ।
ऐसा त्वदीय मनका यदि भाव होगा,
तो मित्र पुद्गल नहीं परिणामि होगा ॥१२३॥

किंवा स्वयं न ढलती विधि वर्गणायें,
कर्मत्व में सहज पुद्गल की घटायें ।
साम्राज्य सांख्य मतका फिर तो चलेगा,
संसार का फिर पता रह ना सकेगा ॥१२४॥

आत्मा स्वयं परिणमाकर पुद्गलों को,
देता बना विधि, मनो ! विधि शक्तियों को ।
आश्चर्य है ! जड़ नहीं परिणामि वैसे !!
आत्मा उन्हें परिणमा सकता हि कैसे ? ॥१२५॥

है कर्म-रूप ढलता जड़ द्रव्य आप,
हो मानते यदि यहाँ इस भाँति आप ।
आत्मा स्वयं विधिमयी जड़को बनाता,
यों मानना फिर असत्य न सत्य भाता ॥१२६॥

निष्कर्ष चूँकि निकला विधि वर्गणायें,
हैं कर्म रूप ढलती जड़ शक्तियाँ ये ।
है अष्टकर्म सब पुद्गल शील वाले,
विश्वास ईदृश अत: मन में जमाले ॥१२७॥

आत्मा स्वयं यदि नहीं विधि से बँधा है,
क्रोधाभिभूत यदि हो न स्वयं सदा है ।
तू मानता इस विधि कर बोध आत्मा,
तो क्यों न हो अपरिणामि त्वदीय आत्मा ॥१२८॥

किंवा मनो अपरिणामि त्वदीय आत्मा,
क्रोधाभिभूत यदि हो न स्वयं दुरात्मा ।
संसार का फिर पता चल ना सकेगा,
साम्राज्य सांख्य मतका सहसा चलेगा ॥१२९॥

मानो कि क्रोध खुद, पुद्गल जो सुहाता,
क्रोधाभिभूत यदि आतम को बनता ।
आत्मा रहा अरिणामि तथापि कैसा ?
क्रोधी उसे कि, वह क्रोध बनाय कैसा ? ॥१३०॥

क्रोधाभिभूत बनता बस आत्म आप,
हो मानते यदि यहाँ इस भाँति आप ।
तो क्रोध, क्रोधमय-आतम को बनाता ।
यों मानना फिर असत्य न सत्य गाथा ॥१३१॥

आत्मा करे जब प्रलोभ तभी प्रलोभी,
मानी तभी जब करे अघ मानको भी ।
मायाभिभूत बनता कर निंद्य माया,
क्रोधी बने करत क्रोध स्वको भुलाया ॥१३२॥

हो अन्तरंग बहिरंग निसंग नंगा,
जो लीन आत्मरति में बनके अनंगा ।
साधु निसंग रह निश्चय से कहाता,
ऐसा कहे सब पदार्थ यथार्थ ज्ञाता ॥१३३॥

सम्मोह को शमित भी जिनने किया है ?
आधार ज्ञान-गुणका मुनि हो लिया है ।
वे वीतराग निज मोह सुधी कहाते,
विज्ञान के रसिक यों हमको बताते ॥१३४॥

शुद्धोपयोग भजते तज सर्व भोग,
धर्मानुराग तक त्याग शुभोपयोग ।
वे हैं सुधी मुनि पराश्रित धर्मत्यागी,
ऐसा कहें गणधरादिक वीतरागी ॥१३५॥

आत्मा स्वयं हृदय में कुछ भाव लाता,
कर्त्ता उसी समय वो उसका कहाता ।
हो ज्ञान-भाव मुनि में अपरिग्रही में,
अज्ञान भाव जु गृहस्थ परिग्रही में ॥१३६॥

है ज्ञान भाव करता मुनि अप्रमादी,
तो कर्म से न बँधता लखता समाधि ।
अज्ञान भाव कर नित्य गृही प्रमादी,
है कर्म जाल फसता मति को मिटादी ॥१३७॥

लो ! ज्ञान से उदित ज्ञान नितान्त होता,
है साधु बीज सम ही फल चूँकि होता ।
हो वीतराग मुनि जो कुछ ध्यान ध्याता,
वो सर्व ज्ञानमय ही, विधि को मिटाता ॥१३८॥

उत्पन्न मात्र भ्रम से भ्रमभाव होता,
औचित्य कारण समा बस कार्य होता ।
अज्ञानि-जीव मन में कुछ भी विचारे ?
अज्ञान से भरितभाव नितान्त पाले ॥१३९॥

लो ! स्वर्ण के मुकुट कुण्डल ही बनेंगे,
अच्छे किसे नहिं लगे मनको हरेंगे ।
विज्ञानि के विमल भाव रहे रहेंगे,
वे पूर्व के समल कर्म हरे हरेंगे ॥१४०॥

लो ! लोह, लोहमय आयुध का विधाता,
देखो जिन्हें कि भय से मन काँप जाता ।
अज्ञानि में तरल राग तरंग माला,
देती उसे दुख पिलाकर पाप हाला ॥१४१॥

अज्ञान का उदय आतम में जभी हो ।
है आत्म ज्ञान मिटता, उलटा सभी हो ।
मिथ्यात्व के उदय में पर को निजात्मा,
है मान भूल करता, बनता दुरात्मा ॥१४२॥

आत्मा स्वयं जब असंयम से घिरेगा,
स्वच्छन्द हो विषय सेवन ही करेगा ।
कालुष्य की सघन कालिख से लिपेगा-
आत्मा, कषायमय दीपक ज्यों जलेगा ॥१४३॥

आत्मा स्वयं तब तरंगित हो हिलोरा-
लेता, चले जब शुभा-शुभ योग जोरा ।
हो तीव्र या पवन मंद जभी चलेगी,
भाई अवश्य सरमें लहरें उठेंगी ॥१४४॥

पूर्वोक्त रूप घटना घटती जभी से,
तो वर्गणा विधिमयी विधि हो तभी से ।
हैं अष्ट कर्म बँधते इस जीव से हैं,
देते अतीव दुख हैं कटु नीम से हैं ॥१४५॥

ये ही यदा उदय में वसु कर्म आते,
तो जीव की विकृति में पड़ हेतु जाते ।
संसार की प्रगति औ गति हो चलेगी,
मेटेइन्हेंमुनि जिन्हेंमुकती मिलेगी (पञ्चकम्) ।१४६।

रागादि ये विकृत चेतन की दशायें,
मोहादि के उदय में दुख आपदायें ।
पै जीव कर्म मिलके यदि राग होगा,
तो कर्म चेतन, अचेतन जीव होगा ॥१४७॥

मोहादिका उदय पाकर जीव रागी,
होता स्वयं नहिं कभी कहते विरागी ।
धूली बिना जल कलंकित क्या बनेगा ?
क्या अग्नि योग बिन नीर कभी जलेगा ? ॥१४८॥

लो ! जीव संग यदि पुद्गल वर्गणायें,
है कर्म रूप ढलती दुख आपदायें ।
दोनों नितान्त तब पुद्गल ही बनेंगे,
आकाश फूल भव औ शिव भी बनेंगे ॥१४९॥

रागादि भाव करता जड़ जीव ज्योंही,
हैं कर्म रूप ढलते जड़ द्रव्य त्यों ही ।
रागादि से पृथक पुद्गल है इसी से,
ऐसा समाधिरत साधु लखे रुची से ॥१५०॥

गाता विशुद्धनय जीव सदा जुदा है,
दुष्टाष्ट कर्म दलसे न कभी बँधा है ।
संसारिजीव विधि से बँधता बँधा था,
यों भावभीनि स्वर में व्यवहार गाता ॥१५१॥

है पक्षपात यह तो नय नीति सारी,
है निर्विकार यह आतम या विकारी ।
वे वस्तुतः समयसार बने लसे हैं,
जो साधु ऊपर उठे नय पक्ष से हैं ॥१५२॥

सर्वज्ञ ज्यों समयसारमयी बने हैं,
साक्षी बने सहज दो नयके तने हैं ।
त्यों साधु भी न बनता नय पक्षपाती,
हो आत्मलीन तजता पररीति-जाति ॥१५३॥

संसार में समयसार सुधा सुधारा,
लेता प्रमाण नय का न कभी सहारा ।
होता वही दृगमयी व्रत बोध धाम,
मेरे उसे विनय से शतशः प्रणाम ॥१५४॥

पुण्यपापाधिकार

मोही कहे कि शुभ भाव सुशील प्यारा,
खोटा बुरा अशुभभाव कुशील खारा ।
संसार के जलधि में जब जो गिराता,
कैसे सुशील शुभ भाव ! मुझे न भाता ॥१५५॥

दो बेडियाँ कनक की इक लोह की है,
ज्यों एकसी पुरुष को कस बाँधती है ।
लो कर्म भी अशुभ या शुभ क्यों न होवे,
त्यों बाँधते नियम से जड़ जीव को वे ॥१५६॥

दोनों शुभाशुभ कुशील, कुशील त्यागो,
संसर्ग राग इनका तज नित्य जागो ।
संसर्ग राग इनका यदि जो रखेगा,
स्वाधीनता विनशती, दुख ही सहेगा ॥१५७॥

संरक्षणार्थ निजको लख तस्करों को,
जैसा यहाँ मनुज सज्जन, दुर्जनों को ।
संसर्ग राग उनका, झट छोड़ देता,
देता न साथ, उनसे मुख मोड़ लेता ॥१५८॥

वैसा हि दुःख सुखदों अशभों शभों को,
कर्मों असार जड़-पुद्गल के फलों को ।
शुद्धात्म में निरत साधु विसारते हैं,
सानन्द वे समय-सार निहारते हैं ॥१५९॥

जो राग में रँगरहा वसुकर्म पाता,
योगी विराग भवमुक्त बने प्रमाता ।
ऐसा जिनेश कहते शिव है विधाता,
रागी ! विराग बन क्यों रति गीत गाता ॥१६०॥

ये केवली समय औ मुनि शुद्ध ध्यानी,
एकार्थ के वचन हैं परमार्थ ज्ञानी ।
साधू स्वभाव रत वे निज धाम जाते,
आते न लौट भव बीच विराम पाते ॥१६१॥

आतापनादि तपसे तनको तपाना,
अध्यात्म से स्खलित हो व्रत को निभाना ।
है सन्त बाल तप संयम वो कहाता,
ऐसा जिनेश कहते भव में घुमाता ॥१६२॥

लो ! अज्ञ साधु यम संयम शील धारी,
शास्त्रानुसार करता तप धीर भारी ।
मानो न लीन परमार्थ समाधि में है,
पाता न पार दुख पाय भवाब्धि में है ॥१६३॥

साधू समाधि-च्युत मूढ़ यथार्थ में है,
दूरातिदूर परमार्थ पदार्थ से है ।
संसार हेतु शिव हेतु न जानते हैं,
वे पुण्य को इसीलिए बस चाहते हैं ॥१६४॥

तत्त्वार्थ की रुचि सुदर्शन नाम पाता,
औ तत्व को समझना वह ज्ञान साता ।
रागादि त्याग करना वह व्रत्त होता,
तीनों मिले बस वही शिव पन्थ होता ॥१६५॥

ज्ञानी कभी न भजते व्यवहार व्याधि,
होनिर्विकल्प, तजते न सुधी समाधि ।
होते विलीन परमार्थ पदार्थ में हैं,
काटे कुकर्म बस साधु यथार्थ में है ॥१६६॥

ज्यों वस्त्रपे चिपकती मल-धूल-माती,
तो वस्त्र की धवलता मिट क्या न जाती ?
मिथ्यात्व की मलिनता मुझको न भाती,
सम्यक्त्व की उजलता शुचिता मिटाती ॥१६७॥

ज्यों वस्त्रपे चिपकती मल-धूल-माती,
तो वस्त्र की धवलता मिट क्या न जाती ?
अज्ञान की मलिनता चिपकी जभी से,
विज्ञान की उजलता मिटती तभी से ॥१६८॥

ज्यों वस्त्रपे चिपकती मलधूल-माती,
तो वस्त्र की धवलता मिट क्या न जाती ?
काषायिकी मलिनता लगती जभी से,
चारित्र की उजलता मिटती तभी से ॥१६९॥

आत्मा विशुद्ध-नयसे निज भाव स्पर्शी,
होगा भले सकलविज्ञ त्रिकाल दर्शी ।
पै वर्त्तमान ! विधिसे कस के बँधा है,
है जानता न कुछ भी समझो मुधा है ॥१७०॥

सम्यक्त्व का यदि जग में विरोधी,
मिथ्यात्व है, कह रहे जिन, धार बोधि ।
मिथ्यात्व के उदय में यह जीव होता,
मोही कुदृष्टि, दुख से दिन रैन रोता ॥१७१॥

आलोक का तम विरोधक ज्यों बताया,
अज्ञान ज्ञान गुण का जिन देव राया ।
अज्ञान के उदय में यह जीव होता,
कर्त्तव्य मूढ़ फिरता भव बीच रोता ॥१७२॥

चारित्र का रिपु कषाय, कषाय-त्यागी,
ऐसा जिनेश कहते, प्रभु-वीतरागी ।
दु:खत्मिका उदय में कुकषाय आती,
तो जीवको चरितहीन बना, सताती ॥१७३॥

आस्रवाधिकार

मिथ्यात्व औ अविरती कुकषाय योग,
ये हैं अचेतन सचेतन से द्वियोग ।
संयोग रूप जड़ है पुनि आत्म रूप,
होते अनेक विध हैं अघ दु:ख कूप ॥१७४॥

संयोग रूप जड़ प्रत्यय हेतु होते,
दुष्टाष्ट कर्म दलके दुख बीज बोते
रागादिमान उनके पुनि हेतु होते,
होते तभी नित दुखी जग जीव रोते ॥१७५॥

ना कर्म बंध करता समदृष्टि होता,
पै रोक आस्रव, सुसंवर तत्त्व जोता ।
प्राचीन बंध भरको बस जानता है,
पूजूँ उसे झट तजूँ अभिमानता मैं ॥१७६॥

ज्यों जीव राग करता निज भूल जाता,
तो कर्म बंध करता प्रतिकूल जाता ।
जो राग से मुनिसुधी मन मोड़ लेता,
होता अबंध भव बंधन तोड़ देता ॥१७७॥

आ, जारहा उदय में फल दे तथापि,
वो ही पुन: करम ना बँधता कदापि ।
लो वृक्ष से फल पका गिरता महीपे,
जाके पुन: वह वहीं लगता नहीं पै ॥१७८॥

रागादिरूप उपयोग ढला नहीं है,
ज्ञानी तभी निरखता विधिको सही है ।
अज्ञान से कुछ बँधे विधि हो पुराणे,
दीवार पे चिपकती रज के प्रमाणे ॥१७९॥

प्रत्येक काल चउप्रत्यय कर्म-भारा,
बाँधे सरागमय-दर्शन-बोध द्वारा ।
ज्ञानी अत: न बँधता विधि बंधनों से,
होता विभूषित सदा मुनि सद्गुणों से ॥१८०॥

ना निर्विकल्प, सविकल्पक हो तना है,
वो ज्ञान-ज्ञान नहि रागमयी बना है ।
है बार-बार वह ज्ञान कुकर्म लाता,
स्वामी ! नहीं परम पूरण व्रत्त पाता ॥१८१॥

सम्यक्त्व बोध व्रत ये जबलौं न पूरे,
होते सराग फलत: रहते अधूरे ।
ज्ञानी नितान्त तबलौ विधिबंध बाँधे,
साधे न मोक्ष निजको न लखे अराधे ॥१८२॥

बाँधे हुए विगत में विधि बंध सारे,
सम्यक्त्व युक्त मुनि में रहते विचारे ।
आते यदा उदय में यदि राग होता,
होता नवीन विधि बंधन, साम्य खोता ॥१८३॥

जैसी यहाँ नव लता सम सौम्य बाला,
होती युवा पुरुष की नहिं भोग शाला ।
ज्यों ही वही मद भरे कुचधार पाती,
भोग्या, बनी पुरुष के मनको चुराती ॥१८४॥

वे सुप्त गुप्त विधि भी नहि भोग्य होते,
आते सदा उदय में फिर भोग्य होते ।
रागादि, जीवकृत-भाव निमित्त पाते,
सम्प्राप्त भेद मय कर्म तभी बनाते ॥१८५॥

शुद्धोपयोग बलसे समदृष्टि योगी,
होता न बंधक अतः, तज भोग भोगी ।
औचित्य आस्रव बिना विधिबंध कैसा ?
हो जाय कारण बिना फिर कार्य कैसा ? ॥१८६॥

योगी विराग समदृष्टि वही सही है,
संमोह रोष रति ये जिसमें नहीं है ।
रागादि आस्रव बिना, विधि बंध हेतु,
होते न प्रत्यय कभी यह जान रे तू ॥१८७॥

सिद्धान्त में कथित प्रत्यय चार होते,
दुष्टाष्ट कर्म जिस कारण बंध होते ।
रागादि हेतु बनते चउ प्रत्ययों के,
रागादिका विलय ही विधि-बंध रोके ॥१८८॥

जैसा यहाँ उदर के अनलानुसार,
औ क्षेत्र आयु निजकाय बलानुसार ।
खाया हुआ अशन मांसवसादिकों में,
कालानुसार ढलता तन-धातुओं में ॥१८९॥

वैसा अनेक विधि पुद्गल प्रत्ययों में,
ज्ञानी बँधा विगत में विधिबंधनों से ।
हो ! कर्म-बन्ध, परसे मन जोड़ता है,
आधार शुद्धनयका जब छोड़ता है ॥१९०॥

संवराधिकार

शुद्धात्म में नियम से उपयोग भाता
क्रोधादि में न उपयोग कभी सुहाता ।
वो क्रोध, क्रोध भर में उपयोग में ना,
हे ! भव्य क्रोध अब तो बस छोड़ देना ॥१९१॥

चैतन्य धाम उपयोग निरा निहाला,
नोकर्म कर्म जिसमें न सदा उजाला ।
नोकर्म कर्म जड़ पुद्गल का पिटारा,
होता कभी न उसमें, उपयोग प्यारा ॥१९२॥

ऐसा जिसे अविपरीत विबोध होता,
सारी प्रवृत्ति तजता, मन मैल धोता ।
शुद्धोपयोग सर में डुबकी लगाता,
योगी वही, नित उसे शिर मैं नँवाता ॥१९३॥

भारी तपा कनक यद्यपि हो तथापि,
भाई नहीं कनकता तजता कदापि ।
त्यों कर्म के उदय में तप साधु जाता,
पै साधुता न तजता, सुख आशु पाता ॥१९४॥

ज्ञानी सहर्ष शुचि जीवन नित्य जीता,
शुद्धोपयोग-पयको भर-पेट पीता ।
रागी, सराग-निजको लखता रहेगा,
अज्ञान-रूपतम में भटका फिरेगा ॥१९५॥

साधू समाधिरत हो निजको विशुद्ध,
जाने, बने सहज शुद्ध अबद्ध बुद्ध ।
रागी स्वको समझ रागमयी बिचारा,
अज्ञान के तिमिर में निजको बिसारा ।
होता न मुक्त भव से दुख हो अपारा ॥१९६॥

जो आपको सब शुभाशुभ वृत्तियों से,
पूरा बचाकर सुखासुख साधनों से ।
सम्यक्त्व बोधव्रत में रुचि से लगाता,
है त्याग राग परका, निज गीत गाता ॥१९७॥

वो सर्व संग तज के मुनि हो इसी से,
जाने नितान्त निज में निजको निजी से ।
एकत्व की वह छटा मनको लुभाती,
नोकर्म, कर्म तक को सबको भुलाती ॥१९८॥

ऐसा निरन्तर निजातम-तत्त्व ध्यानी,
सम्यक्त्व बोध व्रत में रत साधु ज्ञानी ।
हो, कर्म-मुक्त गुणयुक्त सदा लसेगा,
लोकाग्र में स्थित शिवालय में बसेगा ॥१९९॥

शिल्पादि लेख लख के जिस भाँति जाना-
जाता परोक्षतम-पूर्ण पदार्थ बाना ।
सत् शास्त्र के मनन से गुरुदेशना से,
हो जाय ज्ञात यह जीव सुसाधना से ॥२००॥

प्रत्यक्ष ज्ञान बल से जिन केवली है,
जैसे निजात्म लखते सबसे बली है ।
साक्षातकार निजका बन जाय ऐसा-
छद्मस्थ होकर कहे बुध कौन वैसा ॥२०१॥

मिथ्यात्व औ अविरती जड़-बोध, योग,
रागादि के जनक ये सुख के वियोग ।
आलोक से सकल लोक अलोक देखा,
सर्वज्ञ ने सदुपदेश दिया सुरेखा ॥२०२॥

होता जभी विलय भी इनका तभी से,
हो नष्ट आस्रव मुनीश्वर का सही से ।
औचित्य ! आस्रव जभी मिटते सभी हैं,
आठों कुकर्म मिटते सहसा तभी हैं ॥२०३॥

दुष्टाष्ट कर्म मिटते तन मेल टूटे,
संदेह क्या तन मिटा जग जेल छूटे ।
विज्ञान की किरण उज्ज्वल पूर्ण फूटे,
भानन्त लाभ फिर तो चिरकाल लूटे ॥२०४॥

निर्जराधिकार

धारा विराग दृग जो मुनिधर्म पाके,
होते उन्हें विषय कारण निर्जरा के ।
भोगोपभोग करते सब इंद्रियों से,
साधू सुधी न बंधते विधि बँधनों से ॥२०५॥

भोगोपभोग जब वे मुनि भोगते हैं ?
होते अवश्य सुख-दुःख नियोग से हैं ।
ले स्वाद दुःख सुख का बनते न रागी,
वे निर्जरा करम की करते विरागी ॥२०६॥

ज्ञाता भले विष सुधा विष मंत्र ज्ञाता,
पाता न मृत्यु फिर भी दुख भी न पाता ।
त्यों निर्विकल्पक समाधि विलीन ध्यानी,
भोगे विपाक विधि के बँधते न ज्ञानी ॥२०७॥

होता प्रमत्त नहि मादकता घटाके,
जो मद्यपान करता रुचिको हटाके ।
ज्ञानी विराग मुनि भोगत भोग सारे,
ये कर्म से न बँधते, निजको निहारे ॥२०८॥

लो भोग भोग कर भी मुनि हो न भो[illegible]
भोगे बिना जड़ कुधी बन जाय भोग[illegible]
इच्छा बिना यदि करे कुछ कार्य त्या[illegible]
कर्त्ता कथं फिर बने परके विरागी ॥२०[illegible]

विश्वास हो विविध है विधि के विपाक[illegible]
ऐसे कहें जिन, जिन्हें मम ढोक लाख[illegible]
होगा नहीं यह विभाव, स्वभाव मेरा[illegible]
ज्ञानी निरामय निरा, नित मैं अकेला ॥२१०[illegible]

होता यदा उदय पुद्गल क्रोध का है,
तो भाव क्रोध उगता रिपु बोध का है ।
होगा नहीं यह विभाव, स्वभाव मेरा,
ज्ञानी निरामय निरा नित मैं अकेला ॥२११॥

रागादि भाव तुममें जब हो रहे हैं,
कैसा कहो फिर उन्हें पर वे रहे हैं ।
भाई 'विभाव' न 'स्वभाव' अतः निरे हैं,
कायादि भी पर अतः मुझसे घिरे हैं ॥२१२॥

होता वही श्रमण है समदृष्टि वाला,
पीता सदा परम पावन बोध प्याला ।
है डूबता बहुत भीतर-चेतना में,
देता न दृष्टि उदयागत वेदना में ॥२१३॥

तू राग को तनिक भी तन में रखेगा,
शुद्धात्म को फिर कदापि नहीं लखेगा,
होगा विशारद जिनागम में भले ही,
आत्मा त्वदीय कुछ औ भव में डुले ही ॥२१४॥

[illegible] आतम अनातम को लखेगा,
[illegible] पात्र किस भाँति अहो बनेगा ।
[illegible] कन्त कहते बन वीतरागी,
[illegible] त्याग दुःख सहता तज राग रागी ॥२१५॥

[illegible] भाव मय कर्म विभाव सारे,
[illegible] इन्हें भूल नहीं त्यग शील वाले ।
[illegible] के प्रभव भाव स्वभाव धारो,
[illegible] के अभाव भूल केवल विश्व सारो ॥२१६॥

विज्ञान पंचविध एक निजातमा है,
सत्यार्थ है निरुपयोग अघ-ध्वातमा है ।
लेता सहारा निजका यदि चाव से तू,
लेगा विराम चिर चेतन छाँव में तू ॥२१७॥

होते कई मुनि, बिना निज बोध जीते,
पीते सुधा न निजकी रह जाय रीते ।
विज्ञान को भज अतः विधि काटना है,
तू चाहता यदि निजी निधि छाँटना है ॥२१८॥

ज्ञानबोध रूप सर में डुबकी लगाले,
संतप्त तू स्नपित हो सुख शांति पाले ।
और अन्त में बल अनन्त ज्वलन्त पाके,
विश्राम ले अमित काल स्वधाम जाके ॥२१९॥

ऊबा हुआ विषय से मुनि वीतरागी,
डूबा हुआ स्वमय में सब ग्रन्थ त्यागी ।
मेरा शरीर यह है तज बुद्धिमानी,
ऐसा भला कहत है वह कौन ज्ञानी ? ॥२२०॥

देहादि को यदि मदीय मनो ! कहूँगा,
नि:शंक चेतन, अचेतन मैं बनूँगा ।
मैं तो सचेतन निकेतन हो तना हूँ ?
मेरा, नहीं पर, परिग्रह मैं बना हूँ ॥२२१॥

हो जीर्ण शीर्ण तन पूर्ण सड़े गले ही,
भाई भले अनल से पल में जले ही ।
हो खंड खंड अणु होकर भी खिरेगा,
मेरा न राग तन में फिर भी जगेगा ॥२२२॥

धर्मानुराग शुभराग शुभोपयोग,
चाहे नहीं मुनि परिग्रह का सुयोग ।
त्यागी रहा इसीलिए शुभ धर्म का है,
ज्ञाता निरन्तर, न बंधक कर्म का है ॥२२३॥

होता अधर्ममय है अशुभोपयोग,
ज्ञानी न चाहत कभी अघ संग योग ।
ज्ञाता अत: मुनि निसंग कुभोग का है,
सच्चा उपासक रहा उपयोग का है ॥२२४॥

ज्ञानी वही श्रमण है अपरिग्रही है,
वो-चाहता तरलपान कभी नहीं है ।
ज्ञाता रहा इसीलिए रस पान का है,
निस्संग है रसिक भी निज ज्ञान का है ॥२२६॥

तत्त्वार्थ का सब पदार्थन का यथार्थ,
शब्दार्थ अर्थ गहता सबके हितार्थ ।
साधू तथापि श्रुत का अभिमान त्यागी,
संसार सौख्य नहिं चाहत वीतरागी ॥२२७॥

यों अंतरंग बहिरंग निसंग ज्ञानी,
होता निरीह सबसे सुनसंत वाणी ।
आकाश सा निरवलम्बन जी रहा है,
ज्ञानाभिभूत-समता रस पी रहा है ॥२२८॥

ना भूत की स्मृति अनागत की अपेक्षा,
भोगोपभोग मिलने पर भी उपेक्षा ।
ज्ञानी जिन्हें विषय तो विष दीखते हैं,
वैराग्य पाठ उनसे हम सीखते हैं ॥२२९॥

संभोग-भाव सब भोग्य पदार्थ भाई,
प्रत्येक काल मिटते न यथार्थ स्थाई ।
ज्ञानी मुनीश इस भाँति जभी लखेगा,
कांक्षा पुन: किसलिए किसकी रखेगा ? ॥२३०॥

संसार काय, विधिबंधन भोग द्वारा ।
धारा प्रवाह चलते जग में सुचारा,
ज्ञानी तभी मुनि करें उनमें न प्रीति,
आश्चर्य क्या ? जब हुई निजकी प्रतीति ॥२३१॥

ज्ञानी न बंध करता विधि से घिरा हो,
पंचेन्द्रि के विषय से जब वो निरा हो ।
हो पंक में कनक पै रहता सही है,
आत्मीयता कनकता तजता नहीं है ॥२३२॥

पंचेंद्रियों विषय में रममान होता,
तो मूढ़ बंध विधि को स्वयमेय ढोता ।
लोहा स्वयं कि जब कर्दम संग पाता,
धिक्धिक् स्वभाव तजता झट जंग खाता ॥२३३॥

सिंदूर नाग-फणिकी जड़ ढूढ़ लाओ,
औ मूत्र भी हथिनि की उनमें मिलाओ ।
ज्यों धोंकनी धुनकते रस प्राप्त होता,
सीसा सुवर्ण बनता जब भाग्य होता ॥२३४॥

है अष्ट कर्म मल किट्ठ असार सारा,
लोहा बना पतित आतम है हमारा ।
रागादि ही कलुष कालिख मात्र जानो,
सम्यक्त्व बोध व्रत औषध पात्र मानो ॥२३५॥

सद्ध्यान की धधकती अगनी जलाओ,
त्यों धोंकनी तपमयी तुम तो चलाओ ।
योगी बनो सतत आतम गीत गालो,
ज्योतिर्मयी शुचिमयी निज को बनालो ॥२३६॥

जैसा सफेद वह शंख सुशोभता है,
निर्जीव जीवमय द्रव्य सुभोगता है ।
कोई नहीं धवलता उसकी मिटाता,
है कृष्णता न उसमें पुनि डाल पाता ॥२३७॥

नाना अचेतन सचेतन भोग भोगे,
ज्ञानी मुनीश मुनिके-व्रत पा अनोखे ।
ऐसा विबोध मुनिका डिग क्यों सकेगा ?
रागाभिभूत कर कौन उसे सकेगा ? ॥२३८॥

मानो कि शंख खुद ही निज से चिगेगा,
आत्मीयता धवलता यदि वो तजेगा ।
तो कृष्णता कलुषता उसमें उगेगी,
वैभाविकी परिणती फिर क्यों रुकेगी ? ॥२३९॥

निर्जीवशंख खुद वो निज से चिगेगा,
आत्मीयता धवलता यदि है तजेगा !
तो कृष्णता कलुषता उसमें उगेगी,
वैभाविकी परिणती फिर क्यों रुकेगी ॥२४०॥

ज्ञानी स्वयं यदि मनो ! भजता विधि को,
विज्ञान की उजलता तजता निधी को ।
अज्ञान रूप ढलता फिर क्या बताना !!
दुर्भाग्य पाक सहता भव दुःख नाना ॥२४१॥

कोई यहाँ नर नराधिप की सुसेवा,
मानो धनाढ्य बनने करता सदैव ।
राजा उसे सुखद सुन्दर सम्पदायें,
देता सुदुर्लभ अभीष्ट विलासतायें ॥२४२॥

हो कर्म-सेव करता इस ही प्रमाणे-
संसारिजीव यदि संपति-भोग पाने ।
तो कर्म भी विविध सौख्य प्रमोदकारी,
देता उसे क्षणिक भौतिक दुःखकारी ॥२४३॥

मानो धनाढ्य बनने करता न सेवा,
कोई यहाँ नर नराधिप की सदैवा ।
राजा कभी न मनवांछित सम्पदायें,
देता उसे सुखद पूर्ण विलासतायें ॥२४४॥

साधू विराग दृग पा निजमें लसें वे,
ना कर्म को विषय सेवन हेतु सेवें ।
तो कर्म भी न उनको सुख सम्पदा दे,
तू कर्म धर्म पर ध्यान अतः सदा दे ॥२४५॥

नि:शंक हो मुनि सदा समदृष्टि वाले,
सातों प्रकार भय छोड़ स्वगीत गाले ।
नि:शंकिता अभयता इक साथ होती,
तो भीति ही स्वयम् हो भयभीत रोती ॥२४६॥

मिथ्यात्व औ अविरती कुकषाय योगों -
को रोकते, विधिविमोहक बाधकों को ।
नि:शंक है निडर हैं समदृष्टि वाले,
रे वीतराग बनके मुनिशील-पाले ॥२४७॥

कांक्षा कभी न रखता जड़ पर्ययों में,
धर्मों पदार्थ दल के विधि के फलों में ।
होता वही मुनि निकांक्षित अंग धारी,
बंदू उसे बन सकूँ द्रुत निर्विकारी ॥२४८॥

कोई घृणास्पद नहीं जग में यथार्थ,
सारे सदा परिणमें निज में यथार्थ ।
ज्ञानी न ग्लान करते मुनि हो किसी से,
धारे तृतीय दृग अंग तभी रुची से ॥२४९॥

ना मुग्ध मूढ़ मुनि हो जग वस्तुओं में,
हो लीन आप अपने अपने गुणों में ।
वे ही महान समदृटि समूढ़ दृष्टि,
नासाग्र दृष्टि रख नासत कर्म सृष्टि ॥२५०॥

मिथ्यात्व आदिक शुभाशुभ भाव छोड़े,
है सिद्धभक्तिरत है मनको मरोड़ें ।
सम्यक्त्वसंग उपगूहण अंगधारी,
वे मान्य पूज्य अनगार, नहीं अगारी ॥२५१॥

उन्मार्ग पे विचरता मन को हटाता,
सन्मार्ग पे नियम से मुनि जो लगाता ।
वो ही स्थितीकरण अंग सुधारता है,
संसार से तिर रहा जग-तारता है ॥२५२॥

ज्ञानादि रत्नत्रय में शिवपंथियों में,
वात्सल्य भाव रखता मुनि-पुँगवों में ।
माना गया समय में सम-दृष्टिवाला,
वात्सल्य अंग अवधारक शांत शाला ॥२५३॥

हो रूढ़ ध्यान रथ, हाथ लगाम लेता,
जो धावमान मन को झट थाम लेता ।
सम्यक्त्व मंडित महा मुनि साधना है,
होती नितान्त जिन-धर्म प्रभावना है ॥२५४॥

बन्धाधिकार

फैली जहाँ मलिन धूलि अमेय राशि,
कोई सशस्त्र नर जाकर के विलासी ।
लो अंग अंग तिल तेल लगा लगाके,
आयाम नित्य करता बलको जगाके ॥२५५॥

स्वच्छंद हो सरसा नीरस पादपों को
बासों तमाल कदली तरुके दलों को ।
वो तोड़-तोड़ टुकड़े-टुकड़े बनाता,
आमूलत: कर उखाड़ उन्हें मिटाता ॥२५६॥

नाना प्रकार इस ताण्डव नृत्य द्वारा,
लो देह में चिपकती रज आ अपारा ।
क्यों वस्तुत: चिपकती रज आ वहाँ है ?
क्या जानते तुम कि कारण क्या रहा है ॥२५७॥

वो तेल लेप वश ही रज आ लगी है,
भाई आकद्य ध्रुव सत्य यही सही है ।
व्यायाम कारण नहीं उस कार्य में है,
ऐसा जिनेश कहते निज कार्य में है ॥२५८॥

मिथ्यात्व मंडित कुधी त्रय योग द्वारा,
चेष्टा निरंतर किया करता बिचारा ।
ज्यों रागरंग रंगता उपयोग को है,
पाता स्वयं नियम से विधि योग को है ॥२५९॥

फैली जहाँ मलिन धूलि अमेय राशि,
कोई सशस्त्र नर जाकर के विलासी ।
लो ! अंग-अंग तिल तेल बिना लगाया,
व्यायाम नित्य करता बलको जगाया ॥२६०॥

स्वच्छन्द हो सरस नीरस पादपों को,
बांसों तमाल कदली तरुके दलों को ।
वो तोड़-तोड़ टुकड़े-टुकड़े बनाता,
आमूलत: कर उखाड़ उन्हें मिटाता ॥२६१॥

नाना प्रकार इस ताण्डव नृत्य द्वारा,
है देह में न चिपकी रज आ अपारा ।
क्यों वस्तुत: चिपकती रज ना वहाँ है,
क्या जानते तुम कि कारण क्या रहा है ? ॥२६२॥

ना तेल लेप तन पे उसने किया है,
भाई नितान्त यह कारण ही रहा है ।
व्यायाम कारण नहीं उस कार्य में है,
ऐसा जिनेश कहते निज कार्य में है ॥२६३॥

होता इसी तरह ही सम दृष्टि वाला,
चेष्टा अनेक विध है करता निहाला ।
रागाभिभूत उपयोग नहीं बनाता,
पाता न बंध, उसको शिर में नवाता ॥२६४॥

मारूँ उसे वह मुझे जब मारता है,
मोही कुधी मनमना यह मानता हैं ।
मेरा नहीं मरण, है ध्रुव शीलवाला,
ज्ञानी कहे मुनि, निरा जड़ में निराला ॥२६५॥

देहावसान जब आयु विलीन होती,
है भारती जिनप की सुख को सँजोती ।
तू जीव की जब न आयु चुरा सकेगा,
कैसा भला सहज मार उसे सकेगा ? ॥२६६॥

देहावसान जब आयु विलीन होती,
है भारती जिनप की सुख को संजोती ।
कोई त्वदीय नहि आयु चुरा सकेगा ?
तेरा भला मरण क्या कि करा सकेगा ? ॥२६७॥

मैं आपकी मदद से बस जी रहा हूँ,
जीता तुम्हें सहज आज जिला रहा हूँ ।
ऐसा सदैव कहता वह मूढ़ प्राणी,
ज्ञानी विलोम चलता जड़ से अमानी ॥२६८॥

है आयु के उदय पा जग जीव जीता,
ऐसा कहे जिन जिन्हें मद ने न जीता ।
तू जीव में यदपि आयु न डाल देता,
कैसा उसे तदपि जीवित पाल लेता ? ॥२६९॥

है आयु के उदय पा जग जीव जीता,
ऐसा कहे जिन जिन्हें मद ने न जीता ।
कोई न आयु तुझमें जब डाल देता,
कैसे तुझे फिर सुजीवित पाल लेता ? ॥२७०॥

मैंने तुझे धन दिया कि सुखी बनाया,
मारा, चुरा धन अपार, दुखी बनाया ।
मोही प्रमत्त जड़की यह धारणा है,
ज्ञानी चले न इस भाँति महामना है ॥२७१॥

साता यदा उदय में अथवा असाता,
होता सुखी जगदुखी, यह छंद गाता,
तू डालता न पर में जब कर्म वेगा,
भाई दुखी जग सुखी बन जाय कैसा ? ॥२७२॥

लो कर्म का उदय जीवन में जभी जो,
औचित्य है जग दुखी व सुखी तभी हो ।
देता न कर्म जग है तुमको कदापि,
कैसे हुए तुम अपार दुखी तथापि ॥२७३॥

लो कर्म का उदय जीवन में जभी हो,
सिद्धांत है जग दुखी व सुखी तभी हो ।
देता न कर्म जग है तुमको कदापि,
कैसे अकारण सुखी तुम हो तथापि ॥२७४॥

दु:खानुभूति करता यम धाम जाता,
संसारिजीव उदया-गत कर्म पाता ।
मारा तुम्हें दुखित पूर्ण किया कराया,
वो मान्यता तव मृषा, जिन देव गाया ॥२७५॥

मानो दुखी नहिं हुवा न मरा सदेही,
जो भी हुवा वह सभी विधिपाक से ही ।
मैंने दुखी मृत नहीं तुमको बनाया,
ऐसा विचार भ्रम है जिनने बताया ॥२७६॥

मैं शीघ्र ही अति दुखी परको बनाता,
किंवा उसे सहज शीघ्र सुखी बनाता ।
ऐसा कहो भ्रमित ही मति आपकी है,
बाँधे शुभाशुभ विधि ग्वानि पापकी है ॥२७७॥

ऐसा विकल्प यदि हो जग को दुखी ही,
सामर्थ्य है कर सकूँ अथवा सुखी ही ।
वो पाप का मलिन संग दिला सकेगा,
या पुण्य का मुख तुम्हें दिखला सकेगा ॥२७८॥

मैं मित्र में सदय हो कर प्राण डालूं,
औशत्रु को अदय होकर मार डालूं ।
ऐसा विभाव मन में यदि धारते हो,
तो पुण्य पाप क्रमश: तुम बांधते हो ॥२७९॥

प्राणों हरो मत हरो जग जंगमो के
संकल्प, बंध करता विधिबंधनों के ।
लो बंधका विधि विधान यही रहा है,
ऐसा सहर्ष नय निश्चय गा रहा है ॥२८०॥

एवं असत्य अरु स्तेय सब्रह्महानी,
औ संग संकलन में रुचि की निशानी ।
माने गये अशुभ अध्यवसाय सारे,
ये पाप बंध करते दुख के पिटारे ॥२८१॥

अस्तेय सत्य सुमहाव्रत को निभाना,
जो ब्रह्मचर्य धर, संग सभी हटाना ।
ये हैं अवश्य शुभ अध्यवसाय सारे,
है पुण्य बंधक कथंचित, पाप टारे ॥२८२॥

पंचेद्रि के विषय को लखता जभी से,
रागादिमान यह आतम हो तभी से ।
पै वस्तुतः विषय बंधक वे नहीं हैं ।
रागादिभाव विधिबंधक हैं सही हैं ॥२८३॥

मैं आपको अति दुखी व सुखी बनाता,
या बाँधता झटिति बंधन से छुड़ाता ।
ऐसी त्वदीय मति सन्मति हारिणी है,
मिथ्यामयी विषमयी दुखकारिणी है ॥२८४॥

रागादि से जबकि बंधन जीव पाते,
आरूढ़ मुक्ति पथ पे मुनि मुक्ति जाते ।
मैं बाँधता जगत को अथवा छुड़ाता,
तेरा विकल्प फिर वो किस काम आता ? ॥२८५॥

ज्यों जीव राग रति की कर आरती है,
होता सुरेश नर वानर नारकी है ।
है पाप-पुण्य परिपाक जु आप पाता,
ऐसा वसन्ततिलका यह छंद गाता ॥२८६॥

शुद्धात्म से पृथक् द्रव्य छहों निराले,
हैं भिन्न-भिन्न गुण लक्षण धर्म धारे ।
संसारि-जीव पर, अध्यवसान द्वारा,
संसार को हि अपना करता बिचारा ॥२८७॥

रे कायसे जगत को दुख है दिलाते,
ऐसा कहीं तुम कहो बलधार पाते ।
निर्भ्रान्त भ्रान्त तब तो मति है तुम्हारी,
संसार कर्मवश पीड़ित क्योंकि भारी ॥२८८॥

लो विश्व को वचन से दुख है दिलाते,
ऐसा कहीं तुम मनो मति धार पाते ।
निर्भ्रान्त ! भ्रान्त मति है तब तो तुम्हारी,
संसार कर्मवश पीड़ित क्योंकि भारी ॥२८९॥

संसार को दुखित हैं मनसे कराते,
ऐसी कहीं तुम मनो मति धार पाते ।
निर्भ्रान्त ! भ्रान्त मति है तब तो तुम्हारी,
संसार कर्मवश पीड़ित क्यों कि भारी ॥२९०॥

या विश्व को दुखित आयुध से कराते,
ऐसा कहीं तुम मनो मति धार पाते ।
निर्भ्रान्त ! भ्रान्त मति है तब तो तुम्हारी,
संसार कर्मवश पीड़ित क्योंकि भारी ॥२९१॥

या काय से वचन से मन से कराते,
हैं विश्व को हम सुखी करुणा दिखाते ।
ऐसा कहो मति मृषा फिर भी तुम्हारी,
पा कर्म का फल सुखी जग क्योंकि भारी ॥२९२॥

ऐसे अनेक विध अध्यवसाय छोड़े,
नीराग भाव धरके मनको मरोड़े ।
ज्ञानी मुनीश्वर शुभाशुभ रेणुओं से,
होते नहीं मलिन, शोभत हो गुणों से ॥२९३॥

संकल्प जन्य सविकल्प अरे ! करेगा,
तो पाप-पुण्य विधिबंध नहीं टरेगा ।
ना बोध दीप दिल में उजला जलेगा,
फैला विमोहतम ना तबलौं टलेगा ॥२९४॥

जो पारिणाम मति अध्यवसाय भाव,
विज्ञान बुद्धि व्यवसाय चितीविभाव ।
हे भव्य ये वसु जिनोदित शब्द सारे,
हैं भिन्न-भिन्न, पर आशय एक धारे ॥२९५॥

है नित्य निश्चय निषेधक मोक्षदाता,
होता निषिद्ध व्यवहार मुझे न भाता ।
लेते सुनिश्चय नयाश्रय संत योगी,
निर्वाण प्राप्त करते, तज भोग भोगी ! ॥२९६॥

भाई अभव्य व्रत क्यों न सदा निभा ले,
लेते भले हि तप संयम गीत गा ले ।
औ गुप्तियाँ समितियाँ कल शील पाले,
पाते न बोध दृग वे न बने उजाले ॥२९७॥

एकादशांग श्रुत पा न स्व-में रुचि है,
श्रद्धान मोक्ष सुख का जिसको नहीं है ।
ऐसा अभव्य जनका श्रुत पाठ होता,
रे राम ! राम ! रटता दिन रात तोता ॥२९८॥

सद्धर्म धार उसकी करते प्रतीति,
श्रद्धान गाढ़ रखते रुचि और प्रीति ।
चाहे अभव्य फिर भी भव भोग पाना,
ना चाहते धरम से विधि को खपाना ॥२९९॥

तत्त्वार्थ में रुचि हुई दृग हो वहीं से,
सज्ज्ञान हो मनन आगम का सही से ।
चारित्र, पालन चराचर का सुहाता,
संगीत ईदृश सदा व्यवहार गाता ॥३००॥

विज्ञान में चरण में दृग संवरों में,
औ प्रत्यख्यान गुण में लसता गुरो में ।
शुद्धात्म की परम-पावन भावना का,
है पाक मात्र सुख्य, है दुख वासना का ॥३०१॥

ज्योतिर्मयी स्फटिक शुभ्रमणी सुहाती,
आत्मीयता तज स्वयं न विरूप पाती ।
पै पार्श्व में मृदुल फूल गुलाब होती,
आश्चर्य क्या फिर भला मणि लाल होती ॥३०२॥

ज्ञानी मुनीश इस भाँति निरा निहाला,
होता स्वयं नहिं कदापि विकार वाला ।
मोहादि के वश कभी प्रतिकूलता में,
रंजाय-मान बनता निज भूलना में ॥३०३॥

संमोहराग करते नहिं रोष, ज्ञानी,
होते प्रभावित नहीं पर से अमानी ।
कर्त्ता अतः नहि कषाय उपाधियों के,
साधू उपास्य जब हैं हम प्राणियों के ॥३०४॥

क्रोधादियों विकृतभाव-प्रणालियों में,
मोही उदीरित कुकार्मिक-नालियों में ।
होता प्रवाहित तभी निज-भूल जाता,
है कर्म कीच फसता प्रतिकूल जाता ॥३०५॥

अज्ञान की कलुष-राग तरंग माला,
काषायिकी परिणती भव दुःख-शाला ।
भावी नवीन विधिबंधन हेतु होती,
आत्मा सबंध बनता मिट जाय ज्योति ॥३०६॥

होता द्विधा परम पाप अप्रत्याख्यान,
हे भव्य दो हि अप्रतिक्रमण सुजान ।
माना गया इसीलिए मुनि वीतरागी,
है कर्म का वह अकारक संग-त्यागी ॥३०७॥

है द्रव्य भावमय दोय अप्रत्यख्यान,
एवं द्विधाहि अप्रतिक्रमण सुजान ।
ये निंद्य निंद्यतर निंद्यतमा रहे हैं,
ज्ञानी इन्हें तज सदा निज में रहे हैं ॥३०८॥

आत्मा समाधिगिरि से गिर के सरागी,
मानो इन्हें कर रहा मुनि दोष भागी ।
तो धूलि-धूसरित भूपर आ हुवा है ?
कर्माभिभूत बन के पर को छुवा है ॥३०९॥

अध्वादि कर्म कृत भोजन दोष सारे,
जाते अजीव पर पुद्गल के पुकारे ।
साधू करे फिर उन्हें किस भाँति ज्ञानी,
वे अन्य द्रव्य गुण हैं यह वीर वाणी ॥३१०॥

औद्देशिकादि सब कर्म निरे-निरे हैं,
चैतन्य से रहित है जड़ता धरे हैं,
ज्ञानी विचार करता मुनिराज ऐसा,
वो अन्य कर्म जड़कर्म मदीय कैसा ॥३११॥

अध्वादि कर्म कृत भोजन दोष सारे,
जाते अजीव जड़ पुद्गल के पुकारे ।
है अन्य से रचित ये गुण देख लेता,
ज्ञानी उन्हें अनुमती किस भाँति देता ? ॥३१२॥

औद्देशिकादि सब कर्म निरे निरे हैं,
चैतन्य से रहित हैं जड़ता धरे हैं ।
हूँ ज्ञानवान जब में मुझसे कराया,
कैसा गया वह, नहीं कुछ जान पाया ॥३१३॥

मोक्षाधिकार

मैं पाश से कस कसा करके कसा हूँ ?
बंधानुभूति करता चिर से लसा हूँ ।
यों बंध बंधफल बंधित गीत गाता,
कोई मनो पुरुष है तुम को दिखाता ॥३१४॥

पै बंध को यदि नहीं वह छोड़ता है,
हा ! जान बूझकर भी नहिं तोड़ता हैं ।
पाता न मुक्ति उस बंधन से कदापि,
दुस्सह्य दुःख सहता चिर काल पापी ॥३१५॥

त्यों कर्म कर्म-स्थिति, कर्म प्रदेश जाने,
औ कर्म की प्रकृति औ अनुभाग माने ।
छोड़े न बंध यदि जान सराग होते,
होते न मुक्त, मुनि मुक्त विराग होते ॥३१६॥

जो पाश बद्ध, बस बंधन चिंतता है,
होता न मुक्त उससे वह अंधता है ।
तू कर्म बंध भर को यदि चिंतता है,
होगा न मुक्त विधि से, मति मंदता है ॥३१७॥

जो पाश से कस बंधे यदि पाश तोड़े,
तो पाश से झट विमुक्त नितान्त होले ।
तू कर्म बंध झट से यदि काटता है,
पाता विमुक्त बन शीघ्र विराटता है ॥३१८॥

शुद्धात्म का परम निर्मल धर्म क्या है,
क्या बंध लक्षण विलक्षण कर्म क्या है ।
यों जान, मान मतिमान प्रमाण द्वारा,
छोड़े कुबंध, गहते शिवधाम द्वारा ॥३१९॥

ये जीव, बंध अपने अपने गुणों से,
है भिन्न मोहवश एक हुए युगों से ।
है भिन्न-भिन्न कहती इनको, सुपैनी,
तो एकमात्र वर बोधमयी सुछैनी ॥३२०॥

यों स्वीय स्वीय गुण लक्षण भेद द्वारा,
तू भिन्न-भिन्न कर बंध निजात्म सारा ।
शुद्धात्म है समयसार-मयी सुधा पी,
हे ! भव्य बंध विष पै मत पी कदापि ॥३२१॥

कैसा निजातम मिले यदि भावना हो,
विज्ञान की सतत सादर साधना हो ।
जाता किया पृथक् बंधन से निजात्मा,
विज्ञान से हि मिलता बनता महात्मा ॥३२२॥

संवेदनामय निजी वह चेतना "मैं",
यों जान, लीन रहना निजचेतना में ।
जो भी अचेतन निकेतन शेष सारे,
हैं हेय ज्ञेय मुझसे चिर से निराले ॥३२३॥

विज्ञान से विदित निश्चत शर्म दृष्टा
मैं ही रहा वह स्वयं निजधर्म सृष्टा ।
जो भी अचेतन निकेतन शेष सारे,
हैं हेय ज्ञेय मुझसे चिरसे निराले ॥३२४॥

विज्ञान से विदित चेतन राम ज्ञाता,
मैं ही रहा वह निजी गुण धाम धाता ।
जो भी अचेतन निकेतन शेष सारे,
हैं हेय ज्ञेय मुझसे चिरसे निराले ॥३२५॥

साधू जिसे स्वपर बोध भला मिला है,
सौभाग्य से दृग सरोज खुला खिला है ।
वो क्या कदापि परको अपना कहेगा,
ज्ञानी न मूढ़सम भूल कभी करेगा ॥३२६॥

ऐसा न होकि मुझको कहिं मार देवे,
तू चोर है कह मुझे जन बाँध देवे ।
ऐसा विचार करता नहिं ठीक सोता,
चौर्यादि पापकर चोर सुभीत होता ॥३२७॥

चौर्यादि कार्य करता नहिं है कदापि,
निर्भीक हो विचरता जग में अपापी ।
होता जिसे कि भय भी अधगैल से है,
चिंता उसे न फिर बंधन जेल से है ॥३२८॥

त्यों संग संकलनलीन असंयमी है,
हो बंध भीति उसको यमी है ।
साधू जिसे भय भला किस बात का है,
है राग भी न जिसको निज गात का है ॥३२९॥

संसिद्धि राध अरु साधित सिद्ध सारे,
आराधिता वचन आशय एक धारे ।
आराधिता रहित आतम ही कहाता,
है दोष-धाम अपराधक पाप पाता ॥३३०॥

निश्चिंत हो निडर हो निजको निहारे,
निर्दोष वे निरपराधक साधु प्यारे ।
आराधना स्वयम की करते सुहाते,
ना तो स्वयं न परको डरते डराते ॥३३१॥

निंदा निवृत्ति परिहार सुधारणाएँ,
गर्हा प्रतिक्रमण शुद्धि प्रसारणाएँ ।
पीयूष कुम्भ तब ही शुद्धि मुनिमत्त होते,
शुद्धोपयोग जब हो विषकुम्ब होते ॥३३२॥

आठो अनिंदन अशुद्धि अधारणादि-
पीयूष कुम्भ जब साधु सधे समाधि ।
ऐसा सुजान समयोचित कार्य साधो ।
एकान्तवाद तजदो अयि आर्य साधो ॥३३३॥

सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार

होते अनन्य अपने-अपने गुणों से,
उत्पद्यमान सब द्रव्य युगों युगों से ।
ज्यों पीलिमा व मृदुता तजता न सोना,
लो कुण्डलादिमय ही लसता सलोना॥३३४॥

वो जीव लक्षण अनन्य स्वचेतना है,
है जीव जीवित तभी जिन देशना है ।
एवं अजीव अपने गुण पर्ययों से,
जीते त्रिकाल चिरसे निज लक्षणों से ॥३३५॥

उत्पन्न जो न परकीय पदार्थ से है,
आत्मा अत: न परकार्य यथार्थ से है ।
उत्पन्न भी कर रहा परको नहीं है,
आत्मा अत: कि परकारण भी नहीं है ॥३३६॥

कर्त्ता हमें विदित हो लख कर्म को है,
कर्त्ता लखो कि अनुमानित कर्म ही है,
कर्त्ता व कर्म इनकी विधि बोलती है,
ऐसी कहीं न मिलती दृग खोलती है ॥३३७॥

आत्मा विमोहवश ही निज को विसारा,
उत्पन्न हो विनशता अघभाव द्वारा ।
रागादिमान इस चेतन का सहारा-
ले कर्म भी उपजता मिटता बिचारा ॥३३८॥

एवं परस्पर निमित्त बने सकाम,
रागी व कर्म बंधते बनते गुलाम ।
संसार का तब प्रवाह अबाध भाता,
रागादि भाव मिटता भवनाश पाता ॥३३९॥

मोहादि से यदि प्रभावित हो रहा है ।
आत्मा अरे स्वयम् के प्रति सो रहा है ।
मिथ्यात्व मंडित असंयत है कहाता,
अज्ञान जन्य दुख की वह गंध पाता॥३४०॥

होता न लीन उदयागत कर्म में है,
ज्ञानी वशी निरत आतम धर्म में है ।
शीघ्रातिशीघ्र मुनि केवल ज्ञान-दर्शी,
होता विमुक्त भवसे शिव सौख्य-स्पर्शी ॥३४१॥

मक्खी बना मुदित मानस हो मलों में,
है मूर्ख मूढ़ रमता विधि के फलों में ।
साक्षी बना, न विधि के फल भोगता है,
ज्ञानी वशी न तजता निज योगता है ॥३४२॥

निश्चिंत हो निडर हो निज को निहारे,
निर्दोष वे निरपराधक साधु प्यारे ।
आराधना स्वयम् की करते सुहाते,
न तो स्वयं, न पर को, डरते डराते ॥३४३॥

हे भव्य ! पूर्ण पढ़ भी जिन-दिव्य वाणी,
त्यागे अभव्यपन को न अभव्य प्राणी ।
मिश्री मिला पयपिलाकर हा अही भी,
क्या कालकूट तजता जग में कभी भी ॥३४४॥

निर्वेग भाव मुनि होकर धारता है,
जो मात्र कर्मफल मौन निहारता है ।
साता रहो सुखद दु:खद हो असाता,
ज्ञानी उन्हें न चखता यह साधु-गाथा ॥३४५॥

संभोगते न करते विधि को कदापि,
ज्ञानी समाधिरत हो मुनि वे अपापी ।
पै पाप पुण्य विधि बंधन के फलों को,
हैं जानते, नमन हो उनके पदों को ॥३४६॥

दृष्टा बने युगल लोचन देखते हैं,
ना दृष्य-स्पर्श करते न हि हर्षते हैं,
ज्ञानी अकारक अवेदक जानता है ।
त्यों बंध मोक्ष विधि को तज मानता है ॥३४७॥

विख्यात लोकमत है सुरमानवों का,
निर्माण विष्णु करता पशुनारकों का ।
स्वीकारते श्रमण चूँकि चराचरों को,
आत्मा जगाय जगजंगम जन्तुओं को ॥३४८॥

माना कि एक मत में वह विष्णु कर्त्ता,
आत्मा रहा इतरमें जग जीव कर्त्ता ।
दोनों समा श्रमण लौकिक वादियों में,
पाया न भेद फिर भी इन दो मतों में ॥३४९॥

हाँ मोक्ष की महक ही इन में न आती,
कर्तृत्व की विषमगंध सही न जाती ।
कोई विशेष इनमें न हि भेद भाता,
ऐसा सुनों समयसार सदैव गाता ॥३५०॥

मेरे खरे धन मकाँ परिवार आदि,
पी मोह मद्य बकता व्यवहारवादी ।
लेते विराम मुनि निश्चय का सहारा,
गाते सदा, न परका अणु भी हमारा ॥३५१॥

कोई यहां पुरुष हैं कहते हमारे,
ये देश खेट पुर गोपुर प्रान्त प्यारे ।
ये वस्तुतः न उनके बनते कदापि,
व्यामोह से जड़ प्रलाप करें तथापि ॥३५२॥

है काय भिन्न पर जानत भी अमानी,
शुद्धोपयोग तज के यदि काश ज्ञानी ।
मानो मदीय तन है इस भाँति बोले,
मिथ्यात्व पा नियम से भव बीच डोले ॥३५३॥

ऐसा विचार, पर को अपना न मानो,
औ राग त्याग परको पर रूप जानो ।
कर्तृत्ववाद धरते इन दो मतों को,
मिथ्यात्व मण्डित लखों उन पामरों को ॥३५४॥

मिथ्यात्व की प्रकृति पापिन जो कहाती,
मिथ्यात्व मण्डित हमें यदि है कराती ।
तो कारिका वह बनी कि अचेतना हो,
स्वीकार किन्तु नहिं वो जिन देशना को ॥३५५॥

किं वा कहो यदि निजातम ही जड़ों को,
मिथ्यात्व रूप करता इन पुद्गलों को,
मिथ्यात्व पात्र फिर पुद्गल ही बनेगा,
आत्मा त्रिकाल फिर शुद्ध बना तनेगा ॥३५६॥

आत्मा तथा प्रकृति ये मिल के जड़ों को,
मिथ्यात्व रूप कर ते इनपुद्गलों को
ऐसा कहो यदि तदा जड़ के-दलों को
दोनों हि स्वाद चखते विधि के फलों का ॥३५७॥

आत्मा तथा प्रकृति भी न कभी जड़ों को,
मिथ्यात्व रूप कहते इन पुद्गलों को ।
ऐसा कहो तदपि पुद्गल ही हुआ है,
मिथ्यात्व क्या मत त्वदीय नहीं हुआ है ॥३५८॥

सम्यक्त्व की प्रकृति पुद्गल को सुहाती,
सम्यक्त्व मंडित हमें यदि है कराती ।
तो कारिका वह बनी कि अचेतना हो,
स्वीकार पै न यह है जिन देशना को ॥३५९॥

अज्ञान का सदन पुद्गल कर्म द्वारा,
होता विबोध घर आतम पूर्ण प्यारा ।
है कर्म से विवश हो कर गाढ़ सोता,
है कर्म के वश सुजागृत पूर्ण होता ॥३६०॥

पा कर्म के फल अतीव सदीव रोते,
मिथ्यात्व मंडित असंयत जीव होते ।
हैं डूबते भव पयोनिधि में दुखी हैं,
होते कभी क्षणिक पा सुख को सुखी हैं ॥३६१॥

आत्मा शुभाशुभ कभी पशु योनियों में,
पाता निवास कुछ काल सुरालयों में।
है कर्म ही नरक में इसको गिराता,
संसार के विपिन में सबको भ्रमाता ॥३६२॥

जो भी करे करम ही करता कराता,
संसार का रचियता बस कर्म भाता ।
ऐसा हि सांख्य मत 'सा' यदि तू कहेगा,
आत्मा अकारक रहा, भव क्या रहेगा ॥३६३॥

स्त्रीवेद को पुरुष वेद सदैव चाहे,
पुँवेद को नियम से तियवेद चाहे ।
आचार्य की परम पूत परंपरा है,
जो जैन से जबकि स्वीकृत सुन्दरा है ॥३६४॥

लो बार बार हम तो कहते इसी से,
है ब्रह्मलीन सब जीव सदा रुची से ।
है कर्म कर्म भरको बस चाहता है,
आत्मा जिसे सतत मात्र निहारता है ॥३६५॥

होती विनष्ट परसे परको मिटाती,
एकान्त से प्रकृति ही नव जन्म पाती ।
भाई अतः प्रकृति भी पर घात वाली,
है सर्व सम्मत रही जड़-गात-वाली ॥३६६॥

आत्मा रहा अमर वो मरता नहीं है,
औ मारता न पर को कहना सही है ।
तो कर्म कर्म भर को बस मारता है,
यों मात्र सांख्यमत आशय धारता है ॥३६७॥

ऐसा हि साँख्य मत से यदि बोलते हो,
साधू हुए अमृत में विष घोलते हो ।
रागादिका करन ही बन जाय कर्त्ता,
तो सर्वथा सकल जीव बने अकर्त्ता ॥३६८॥

आत्मा मदीय करता निजको निजी से,
ऐसा त्वदीय मत स्वीकृत हो सदी से ।
तो भी रहा मत नितान्त असत्य तेरा,
कूटस्थ नित्य मत में न हि हेर फेरा ॥३६९॥

है एक हेतु इसमें सुन ए हितैषी,
आत्मा रहा अमर नित्य असंख्य देशी ।
वो एकसा, न घटता बढ़ता नहीं है,
ऐसा कथन आगम का सही है ॥३७०॥

हो केवली समुद्घात त्रिलोक व्यापी,
आत्मा प्रमाण तनके, तनमें तथापि ।
ऐसी दशा फिर भला उसको बढ़ाता,
वो कौन सक्षम उसे क्रमशः घटाता ॥३७१॥

आत्मा त्रिकाल यदि ज्ञायक ही रहा हो,
वैराग्य राग किसको कब हो कहां हो ?
आत्मा कथंचित अतः विधि से सरागी,
हो बोध-दाम तज राग बने विरागी ॥३७२॥

आत्म सदा मिट रहा निज पर्ययों से,
शोभे वही ध्रुव किन्हीं ध्रुव सदगुणों से ।
एकान्त है यह नहीं ध्रुव दृष्टि द्वारा-
कर्त्ता वही इतर , पर्यय दृष्टि द्वारा ॥३७३॥

पर्याय से मिट रहा गुण से नहीं है,
आत्मा त्रिकाल ध्रुव भी रहता वही है ।
एकान्त है नहि, वही ध्रुव भाव द्वारा
भोक्ता, निरा क्षणिक पर्यय भाव द्वारा ॥३७४॥

भोक्ता वही न बनता बन कर्म कर्त्ता,
यों बौद्ध लोक कहते निज धर्म हर्त्ता ।
सिद्धान्त जो कि क्षण-भंगुर वादियों का,
उद्भ्रान्त है वितथ मात्र कुदृष्टियों का ॥३७५॥

भोक्ता निरा बस निरा बन जाय कर्त्ता,
सिद्धान्त बौद्ध यह है अघकार्य कर्त्ता ।
जो भी सहर्ष इसका गुण गीत गाते,
सद्धर्म से सरकते विपरीत जाते ॥३७६॥

शिल्पी स्वयं मुकुट आदिक को बनाते,
होते न तन्मय नहीं पर रूप पाते ।
मोहादि कर्म करता रहता निराला,
आत्मा कभी न तजता निज चित्त-शाला ॥३७७॥

हस्तादि से मुकुट आदिक को बनाते,
शिल्पी न शिल्पमय किन्तु हुए दिखाते ।
है जीव कर्म करता निज इन्द्रियों से
तादात्म्य पै न रखता उन पुद्गलों से ॥३७८॥

शस्त्रास्त्र शिल्प करने गहता अनेकों,
शिल्पी न तन्मय बना वह भिन्न देखो ।
स्वीकारता यदपि कर्म तथापि, पापी,
आत्मा न कर्ममय आप बना कदापि ॥३७९॥

है शिल्प कार्य करता धन धान्य पाता,
शिल्पी अनन्य बनता नहिं, अन्य भाता ।
नाना प्रकार फल भोग शुभाशुभों के,
आत्मा न पुद्गल बना निज बोध खो के ॥३८०॥

आत्मा कुकर्म करता फल चाखता है,
ऐसी अवश्य कहती व्यवहारता है ।
पै भोगता व करता परिणाम को ही,
ऐसा सुनिश्चय कहे सुन ए विमोही ॥३८१॥

मैं कुण्डलादिक करूँ मन भाव लाता,
शिल्पी उसी समय तन्मय हो सुहाता ।
रागादिभाव करता जब जीव ऐसा,
तद्रूप आप बन जाय तदीव ऐसा ॥३८२॥

ऐसा विकल्प कर आकुल हो उठेगा
शिल्पी सुनिश्चित दुखी बन वो मिटेगा ।
रागाभिभूत बनता निज भूल जाता,
जो जीव दुःखमय हो प्रतिकूल जाता ॥३८३॥

दीवार के वश नहीं खटिका सफेदी,
दीवार भिन्न वह भिन्न स्वयं सफेदी ।
है ज्ञेय ज्ञेय वश ज्ञेय प्रकाशता है,
वो ज्ञान, ज्ञान रह ज्ञायक भासता है ॥३८४॥

दीवार के वश नहीं खटिका सफेदी,
दीवार भिन्न वह भिन्न स्वयं सफेदी ।
है दृश्य दृश्य बस दृश्य दिखा रहा है,
आत्मा सुदर्शक सुदर्शक भा रहा है ॥३८५॥

दीवार के वश नहीं खटिका सफेदी,
दीवार भिन्न वह भिन्न स्वयं सफेदी ।
त्यों त्याज्य त्याज्य पर त्याग न तन्मयी है,
साधू स्वयं सहज संयत संयमी है ॥३८६॥

दीवार के वश नहीं खटिका सफेदी,
दीवार भिन्न वह भिन्न स्वयं सफेदी ।
श्रद्धेय के वश नहीं समदृष्टि वाला,
साधू स्वदृष्टि वश ही समदृष्टिवाला ॥३८७॥

ऐसे विबोध व्रत दर्शन तीन प्यारे,
होते सुनिश्चय सदा अघ हीन सारे ।
संक्षेप में अब सुनो व्यवहार गाता,
सन्मार्ग साधक सुनिश्चय का विधाता ॥३८८॥

चूना निसर्ग धवला शशिसी सुहाती,
दीवार को उजल रंग यही दिलाती ।
विज्ञान से विशद् विश्व सुजानता है,
ज्ञाता बना सहज भाव सुधारता है ॥३८९॥

चूना निसर्ग धवला शशिसी सुहाती,
दीवार को उजल रूप यही दिलाती ।
आलोक से सकल लोक अलोक देखा,
दृष्टा बना विमल दर्शन पा सुरेखा ॥३९०॥

चूना निसर्ग धवला शशिसी सुहाती,
दीवार को उजलरूप यही दिलाती ।
यों जान मान परको पर रूप ज्ञानी,
है त्यागता व भजता निजरूप ध्यानी ॥३९१॥

चूना निसर्ग धवला शशि सी सुहाती,
दीवार को उजलरूप यही बनाती ।
जीवादि तत्त्व भर में रख पूर्ण आस्था,
सम्यक्त्व धारक चले अनुकूल रास्ता ॥३९२॥

ज्ञानादि जो न निजकी करते उपेक्षा,
भाई तथापि पर की रखते अपेक्षा ।
सिद्धान्त में बस यही व्यवहार माना,
सर्वत्र यों समझना भवपार जाना ॥३९३॥

पंचेंद्रि के विषय चेतन से परे हैं,
सम्यक्त्व बोध व्रत से नहिं वे भरे हैं ।
हे साधु चेतन अचेतन का तथापि,
कैसा विघात करता, नहिं वो कदापि ॥३९४॥

दुष्टाष्ट कर्म शुचि चेतन से परे हैं,
सम्यक्त्व बोध व्रत से नहिं वे भरे हैं ।
हे साधु चेतन अचेतन कर्म का भी,
कैसा विघात करता नहिं वो कदापि ॥३९५॥

काया अचेतन निकेतन हो तभी है,
सम्यक्त्व बोध व्रत से न हि वो बनी है ।
हे ! साधु चेतन, अचेतन काय का भी,
कैसा विघात करता नहि हा कदापि ॥३९६॥

विज्ञान चारित सुदर्शन ये भले ही,
संमोह के वश मिटे क्षण में टले ही ।
होता न घात पर पुद्गल का इसी से,
गाता यही समयसार सुनो रुची से ॥३९७॥

ज्ञानादि दिव्य गुण आतम में अनेकों,
दीखें परन्तु परपुद्गल में न देखो ।
सम्यक्त्व की मुनि विराग, पराग पीते,
पीते न राग विष, सो चिरकाल जीते ॥३९८॥

है जीव की यह अनन्य विभाववाली,
संमोह रोष रति की दुखदा प्रणाली ।
रागादि ये इसीलिए जड़में नहीं है,
हे साधु तेल, मिलता तिल में सही है ॥३९९॥